हमारी विचारधारा

वनस्थली विद्यापीठ

वनस्थली विद्यापीठ

हमारी विचारधारा

'हमारी विचारधारा' प्रस्तुत करने का प्रयोजन यह है कि विद्यापीठ के सामने किस प्रकार के व्यक्तित्व–निर्माण का लक्ष्य है, उसे स्पष्ट किया जाए। जब हम 'हमारी विचारधारा' इन शब्दों का प्रयोग करते हैं तो हमारा आशय यह है कि इन विचारों में आज के युग के कुल मिलाकर सर्वमान्य विचारों के अतिरिक्त ऐसे विचार भी हैं जो हमारी अपनी विशिष्ट दृष्टि को प्रकट करते हैं।

शिक्षा की प्रक्रिया, दिशा और उसका लक्ष्य : सबसे पहले शिक्षा की प्रक्रिया, उसकी दिशा और उसके लक्ष्य के विषय में विचार करना उचित होगा। शिक्षा एक जीवन प्रक्रिया है और प्रक्रिया की कोई न कोई दिशा होती है तथा उसका कुछ लक्ष्य भी होता है। शिक्षा की प्रक्रिया है मानव व्यक्तित्व के निर्माण की। विद्यापीठ में दी जाने वाली शिक्षा प्रक्रिया की दिशा एक सुस्पष्ट और अन्तिम लक्ष्य की ओर है। यह लक्ष्य ऐसे व्यक्तित्व का निर्माण है जो सभी प्रकार की एकांगिता और एक पक्षीयता (प्रिज्यूडिसेज और प्रिडिलिक्शन्स) से मुक्त हो, जिसमें हृदय की शुद्धता, बुद्धि की निर्मलता और कर्म की दृढ़ता हो, जो धर्म–विशेष, सम्प्रदाय–विशेष, विचारधारा–विशेष की संकीर्णता से परे हो, ऐसा व्यक्तित्व जिसमें मानव प्रेम की धारा प्रवाहित होती हो और जिसमें स्वतंत्र विचार, आदर्श के प्रति समर्पण–भाव और कार्य के प्रति निष्ठा हो। संक्षेप में हम एक ऐसे उदार, सम्पूर्ण संतुलित और न्याय–प्रिय व्यक्तित्व के निर्माण की दृष्टि सामने रख कर चलना चाहते हैं जिसमें परम्परा की समृद्धि (रिचनेस ऑव हैरिटेज), परिस्थिति के प्रति गत्यात्मक और ऐतिहासिक दृष्टि तथा वैज्ञानिक वृत्ति

हो। स्पष्ट है कि यह ऐसा महान् लक्ष्य है जिसकी ओर अग्रसर होते रहने का हमारा केवल प्रयत्न मात्र ही हो सकता है।

शिक्षा और जीवनदृष्टि : शिक्षा की प्रक्रिया, दिशा और उसके लक्ष्य के सम्बन्ध में जो विवेचन उपर्युक्त पंक्तियों में किया गया है, उसके पीछे एक जीवन–दृष्टि है। विद्यापीठ के विधान में लिखा है – "विद्यापीठ का उद्देश्य है पूर्व और पश्चिम की आध्यात्मिक विरासत तथा वैज्ञानिक उपलब्धियों का समन्वय।" यही उद्देश्य हमारी जीवन–दृष्टि को व्यक्त करता है ; शब्द हम इस जीवन–दृष्टि को व्यक्त करने के लिए चाहे कुछ भी प्रयोग में लाएं। भौतिक सृष्टि को समझने का काम विज्ञान का है। यह भौतिक सृष्टि केवल बाह्य प्रकृति तक ही सीमित नहीं रहती। जीव–जगत् का भौतिक और मानसिक पक्ष भी इसके अन्तर्गत आता है। विज्ञान की सीमा में प्राकृतिक विज्ञान, जीवन विज्ञान (लाइफ सायंसेज) और मानव तथा सामाजिक विज्ञान सभी आ जाते हैं। पर विज्ञान के क्षेत्र में, उस चेतन या आत्मिक तत्त्व का समावेश नहीं होता, जिसकी अभिव्यक्ति की अधिकतम संभाव्य–क्षमता मानव में है। चेतन तत्त्व है, यह तो भौतिकवादी भी स्वीकार करते हैं, पर उनका कहना यह है कि यह चेतन तत्त्व उस भौतिक तत्त्व के विकास की एक अवस्था मात्र है जो सृष्टि का बुनियादी तत्त्व है। जो आत्मवादी हैं, उनका कहना यह है कि सारी सृष्टि का मूल कारण ही यह आत्म तत्व है। पर इस बहस में जाने की हमें आवश्यकता नहीं है। हम तो इन दृष्टियों की विरासत और उपलब्धियों का मानव–कल्याण की दृष्टि से समन्वय करना चाहते हैं, यही हमारा उद्देश्य है। इस समन्वय का अर्थ मानव–जीवन और मानव–समाज के स्तर पर उसी प्रकार के व्यक्तित्व का निर्माण करना है, जिसका हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं। जीवन की मूल दृष्टि चाहे आध्यात्मिक हो, चाहे भौतिकवादी, एक ऐसी अवस्था अवश्य है, जहाँ दोनों दृष्टियों का मेल बैठता है। यह अवस्था है 'मानवीयता' को स्वीकार करने की। क्योंकि व्यक्ति अपने आपको अध्यात्मवादी कहे चाहे भौतिकवादी, दोनों की 'मानवीयता' में आस्था तो होगी ही। वास्तव में तो बात यह है कि मानवीय दृष्टि हुए बिना आध्यात्मिक तो कोई हो ही नहीं सकता। या यह कहना ज्यादा ठीक होगा

कि सच्चे आध्यात्मिक में मानवीयता तो होगी ही। जहाँ तक विद्यापीठ का कार्य प्रयोजन है, वह व्यक्ति को पूर्ण मानवीय बनाना तो है ही, पर जिनकी आस्था और आगे जाने की हो, उनके लिए न केवल विद्यापीठ में स्थान ही है, बल्कि उनकी प्रेरणा से औरों के प्रभावित होने की पूर्ण स्वतंत्रता और पूरा अवसर भी है। जिस किसी का ईश्वर में विश्वास है और जिसकी धार्मिक वृत्ति है, उसे अपने विश्वास और वृत्ति के लिए पूर्ण स्वतंत्रता है। पर विद्यापीठ के विचार में ईश्वर और धर्म को किसी संकीर्ण मर्यादा में बाँधना अनुचित है। इसके साथ हम यह भी मानते हैं कि मूलभूत सिद्धांतों की दृष्टि से संसार के तमाम धर्मों में समानता है। इसीलिए सर्व–धर्म समन्वय का आदर्श हम मानते हैं। और इस तथ्य की स्वीकृति के अनन्तर कि मनुष्य–मात्र का एक ही धर्म है – 'मानवधर्म' ; फिर इस बात से किसी को विरोध नहीं होना चाहिए कि अमुक व्यक्ति अपने आपको अमुक धर्म का अनुयायी मानते हैं, बशर्ते कि वे अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णुता, उदारता और आदर का भाव रखते हों।

धर्म से मिला हुआ प्रश्न ईश्वर का है। शायद बहुत थोड़े अपवादों को छोड़ कर, प्रत्येक व्यक्ति का यह विश्वास है कि संसार में जितना प्रत्यक्ष है, उसमें व्याप्त तथा उससे परे भी कोई एक और सत्ता है। इस प्रकार की सत्ता में विश्वास और श्रद्धा रखने वाला ही हमारी दृष्टि में आस्तिक है। हमारी मान्यता तो यहाँ तक भी हो सकती है कि अपने कर्म में अत्यन्त श्रद्धा और निष्ठा रखने वाले और उसके लिए अपने आपको समर्पण कर देने वाले व्यक्ति भी वास्तव में आस्तिक हैं, चाहे फिर वे अपने आपको ईश्वरवादी या आस्तिक न भी कहें।

शिक्षा का व्यावहारिक प्रयोजन : शिक्षा का मूल लक्ष्य व्यक्तित्व–निर्माण है, यह हम पीछे लिख चुके हैं। अब यह आवश्यक है कि शिक्षा के व्यावहारिक लक्ष्य पर भी हम विचार कर लें। दूसरे शब्दों में, शिक्षा के द्वारा जिस व्यक्तित्व का हम निर्माण करना चाहते हैं, वह है किसलिए ? जो जीवन के प्रति आध्यात्मिक दृष्टि रखते हैं, उनके लिए 'शिक्षा मुक्ति का साधन' है – 'सा विद्या या विमुक्तये।' जिनकी दृष्टि यहाँ तक नहीं जाती, उनके लिए शिक्षा से (जिसमें वर्तमान ज्ञान, उसका प्रसार

और नए ज्ञान की शाश्वत खोज--सभी शामिल हैं) प्राप्त योग्यता और कार्यक्षमता एक सामाजिक थाती है, जिसका उपयोग समर्पण--भाव से लोकहित में किया जाना चाहिए। लोकहित में व्यक्तिगत तथा पारिवारिक हित शामिल है, केवल इस मर्यादा के साथ कि वे सामाजिक दायित्व तथा सामूहिक हित की अवहेलना न करें।

शिक्षा, आधुनिकीकरण और सामाजिक परिवर्तन : यहाँ शिक्षा के एक अन्य प्रयोजन का उल्लेख करना भी आवश्यक है। इस प्रयोजन का सम्बन्ध है सामाजिक परिवर्तन से। हम जानते हैं कि हर समाज में हमेशा ही कम--ज्यादा परिवर्तन की प्रक्रिया चलती रहती है, पर आज परिवर्तन की यह प्रक्रिया उन समाजों में विशेष रूप से चल रही है, जो विकासमान समाज कहे जाते हैं और जिनमें हमारे समाज का प्रमुख स्थान है। सामाजिक परिवर्तन की यह प्रक्रिया आधुनिकीकरण का परिणाम है। आधुनिकीकरण की इस ऐतिहासिक प्रक्रिया के पीछे दो मूल्य मुख्य हैं – एक आधुनिक विज्ञान और तकनीकी की सहज स्वीकृति और दूसरा सामाजिक न्याय को स्थापित करने की आज की युग–प्रवृत्ति। विद्यापीठ तत्त्वतः इन दोनों ही बातों का समर्थन करता है। भारतीय संस्कृति और उस पर आधारित सामाजिक व्यवस्था, वर्णाश्रम व्यवस्था – दोनों में अपने–अपने ढंग से विज्ञान और सामाजिक न्याय के मूल्यों का समर्थन प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप में रहा है, चाहे समय के साथ संस्कृति और व्यवस्था दोनों में ही विकृति आ गई हो। यह विकृति जहाँ तक हमारी संस्कृति का सम्बन्ध है, बाद में उत्पन्न पुरोहितवाद, धर्मान्धता और अन्धविश्वास के रूप में तथा समाज–व्यवस्था में जातिवाद की संकीर्णता और जड़ता (रिजिडिटी) के रूप में आज देखने को मिलती है। विद्यापीठ अपनी संस्कृति और समाज–व्यवस्था में आई इस विकृति से उन्हें मुक्त कराना चाहता है और विज्ञान और सामाजिक न्याय को जीवन के दो महत्त्वपूर्ण मूल्यों के रूप में सुरक्षित रखना चाहता है। इस दृष्टि से आधुनिकीकरण की ऐतिहासिक प्रक्रिया के हम समर्थक हैं। पर इस ऐतिहासिक प्रक्रिया के वर्तमान रूप में एक दोष और विकार भी पाया जाता है। वह दोष और विकार मानव जीवन के बाह्य और भौतिक पक्ष पर अत्यधिक और एक पक्षीय जोर देना है,

जिसके फलस्वरूप जीवन का संतुलन (आध्यात्मिक और भौतिक पक्षों के बीच में) अब बिगड़ गया है और सम्पूर्ण मानव–जीवन अत्यधिक अर्थ–प्रेरित हो उठा है, इस प्रवृत्ति को हम मानव–कल्याण के लिए घातक मानते हैं। अब विचारणीय विषय यह है कि आधुनिकीकरण के फलस्वरूप आ रहे इस सामाजिक परिवर्तन में शिक्षा का क्या योगदान माना जाना चाहिए ?

सामाजिक परिवर्तन के अन्तर्गत दो प्रकार के परिवर्तनों का समावेश किया जा सकता है : 1. वह जो आधुनिकीकरण का परिणाम होता है और 2. वह जिसका उद्देश्य समाज की ऐसी व्यवस्था को स्थापित करना है, जो शोषणमुक्त सामाजिक न्याय पर आधारित हो। हमारा मानना यह है कि इन दोनों ही प्रकार के सामाजिक परिवर्तनों के लाने में शिक्षा को महत्त्वपूर्ण भूमिका निभानी चाहिए। दूसरे शब्दों में शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो सामाजिक परिवर्तन की इन प्रक्रियाओं के मार्ग को न केवल अधिक से अधिक प्रशस्त ही कर सके, उसको सही दिशा में मोड़ भी सके। शिक्षा, यह काम शिक्षार्थियों में विचार परिवर्तन और मूल्य–परिवर्तन करके कर सकती है। विद्यापीठ इस दिशा में पूर्णतया जागरूक और प्रयत्नशील रहता है। इस सम्बन्ध में शिक्षा की, विशेषकर संस्थागत औपचारिक शिक्षा की एक मर्यादा भी है जिसका हमें ध्यान रखना होगा। संस्थागत और औपचारिक शिक्षा समाज में मान्य विचारों और मूल्यों को अधिकाधिक व्यवहार में लाने में तो सहायक हो सकती है, पर जो विचार और मूल्य समष्टि को अभी पूर्णतया स्वीकार नहीं हुए हैं, उनके प्रचार और प्रसार में शिक्षा का विशेष योगदान नहीं हो सकता। इस संबंध में शिक्षक का फिर भी एक हद तक योगदान हो सकता है, पर शिक्षण संस्था जो प्रतिष्ठित व्यवस्था का अंग–मात्र है, इसमें कोई कहने लायक योगदान नहीं कर सकती। अगर हम पहले को सामाजिक परिवर्तन और दूसरे को सामाजिक क्रांति कहें तो हम यह कहेंगे कि शिक्षा सामाजिक परिवर्तन का तो प्रभावक साधन है, पर सामाजिक क्रांति का नहीं।

शिक्षा और भारतीय संस्कृति : विद्यापीठ की एक मान्यता यह भी है कि किसी भी समाज की शिक्षा का आधार उसकी संस्कृति होनी चाहिए। इसलिए भारतीय शिक्षा का आधार भारतीय संस्कृति ही होगी।

इस विषय में थोड़ा–सा विचार करना उचित रहेगा। संस्कृति वह मूल जीवन–दृष्टि है, जो मनुष्य के समस्त आचार–विचार और भावना को प्रभावित करती है और जीवन–दृष्टि की बाह्य अभिव्यक्ति ही उस समाज की सभ्यता कही जाती है। जीवन–दृष्टि और उसकी बाह्य अभिव्यक्ति–दोनों ही प्रकृति से गत्यात्मक हैं और इसलिए उनमें समय के साथ परिवर्तन होता रहता है। उस परिवर्तन के प्रवाह के क्रम में कई पुराने तत्त्व निकल जाते हैं और नये जुड़ते रहते हैं। फलस्वरूप आवश्यक संशोधन और संवर्द्धन भी होता जाता है। कुछ तत्त्व दूसरों की अपेक्षा अधिक महत्त्व के होते हैं और कुछ अपेक्षाकृत कम महत्त्व के। इस सामान्य पृष्ठभूमि में अब हम भारतीय संस्कृति की कुछ महत्त्वपूर्ण विशेषताओं का उल्लेख करना चाहेंगे। भारतीय संस्कृति अपनी सम्पूर्ण गत्यात्मकता के साथ, कुछ ऐसे आधारभूत और सार–रूप विचारों से हजारों वर्षों से जुड़ी हुई है, जिनमें कोई परिवर्तन नहीं आया है।

भारतीय संस्कृति का यह शाश्वत तत्त्व उसकी जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि है। इस दृष्टि का सबसे बड़ा तथा व्यावहारिक लाभ, आज इस अत्यन्त तेजी से बदलते हुए युग में, यह है कि इस प्रवाह में रहते हुए भी मनुष्य का अपना एक अडिग आधार बना रहता है। भारतीय संस्कृति की मूल मान्यता यह है कि जो कुछ सृष्टि में प्रत्यक्ष है, उसके पीछे कोई परोक्ष सत्ता है और मनुष्य के जीवन का परम लक्ष्य उस सत्ता की न केवल अपरोक्ष अनुभूति करना है, बल्कि अपने को उसी सत्ता के रूप में देखना है – 'अहम् ब्रह्मास्मि' !

उपर्युक्त विशेषता में से उसकी एक और विशेषता निकलती है, और वह है – जीवन के व्यवहार में अधिकार की जगह कर्तव्य–दृष्टि पर जोर; किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि भारतीय संस्कृति में अधिकार की उपेक्षा की गई है। वास्तव में कर्तव्य और अधिकार अन्योन्याश्रित हैं और परिस्थितिविशेष के अनुसार यह निर्णय करना होगा कि किस पहलू से कर्तव्य–अधिकार के इस सम्पूर्ण चित्र को देखा जाए। जब भारत पराधीन था, तब सम्पूर्ण राष्ट्र का जोर अगर अधिकार के पहलू पर रहा तो यह उचित ही था; पर इसमें कर्तव्य की अवहेलना की गई हो, ऐसा नहीं मानना

चाहिए। आज देश के सामने नवनिर्माण का प्रश्न है। इस संदर्भ में सम्पूर्ण देश की दृष्टि से कर्तव्य पर ही जोर देने की अधिक आवश्यकता है।

कर्तव्य–अधिकार की यह दृष्टि भारतीय जीवन–दृष्टि और जीवन–व्यवस्था में प्रतियोगिता तथा विरोध की जगह सहयोग और सहकारिता तथा परस्पर पूरकता (कोम्पलीमेंटरिटी) के सिद्धान्त को स्वीकार करती है। आधुनिक विज्ञान भी अब पूरकता के इस सिद्धान्त (कोम्पलीमेंटरिटी प्रिंसीपल) को स्वीकार करता है। हमारी संस्कृति में वर्णाश्रम व्यवस्था और पुरूषार्थ–चतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष) इसी जीवन–पक्ष को प्रकट करते हैं। इसी दृष्टि को जब शिक्षार्थी की शिक्षा में लागू किया जाएगा तो "न पुरस्कार और न दण्ड" का वह सिद्धान्त निकलेगा, जिसे तत्त्वतः विद्यापीठ ने हमेशा से मान्य किया है।

भारतीय संस्कृति की एक विशेषता यह भी रही है कि विभिन्न तत्त्वों का समय–समय पर उसने समन्वय किया है। इसे सामाजिक समूह, विभिन्न समूहों की संस्कृति या उनके धार्मिक विचार–किसी भी दृष्टि से देखा जा सकता है। जीवन का कोई क्षेत्र हो, समन्वयात्मक वृत्ति ही रचनात्मक और सम्पूर्ण होती है, जबकि विश्लेषणात्मक वृत्ति खण्डित और अपूर्ण। इसलिए विश्लेषणात्मक वृत्ति का अपना उपयोग होते हुए भी जीवन की कार्य–प्रणाली के लिए, अंततोगत्वा समन्वयात्मक दृष्टि ही कल्याणकारी है। इसी को, दूसरे शब्दों में, विभिन्नता में एकता की दृष्टि कहा जाता है, जो भारतीय संस्कृति की एक विशेषता मानी गई है।

इसी समन्वयात्मक दृष्टि का परिणाम भारतीय संस्कृति की उदारता की दृष्टि भी है, जो जीवन के आध्यात्मिक और सांसारिक सभी क्षेत्रों में लागू होती है। यह भी भारतीय संस्कृति की अपनी एक विशेषता है।

भारतीय संस्कृति के बारे में एक उल्लेखनीय बात यह है कि उसका तर्क और विज्ञान से कोई विरोध नहीं है। उसके अनुसार तर्क और अन्तर्बोध (इण्टयूशन) दोनों ही मानव मस्तिष्क की शक्तियाँ हैं, जिनके बीच में कोई द्वन्द्व नहीं हो सकता। इसी कारण धार्मिक (आध्यात्मिक) अनुभूति

का विज्ञान के निष्कर्षों के साथ मेल बैठना आवश्यक माना गया है। उन्हीं परम्परागत मान्यताओं को ऐन्द्रिय प्रमाण से श्रेष्ठ माना जाना चाहिए, जो तर्कसंगत हो, न कि सभी को।

अन्त में भारतीय संस्कृति या जीवन–दृष्टि की एक उल्लेखनीय पहचान है, बड़ों के प्रति आदर–भाव। इसका अर्थ न तो अन्ध–श्रद्धा है और न अपने स्वतंत्र विचार को दबाने अथवा छिपाने की बात। इसका तो आशय केवल इतना ही है कि बड़ों के प्रति हमारे व्यवहार की अभिव्यक्ति एक मर्यादा और आदर को लिए हुए हो।

जिस भारतीय संस्कृति का हमने यहाँ उल्लेख किया है, वह हमारी विचारधारा का केन्द्र बिन्दु है और अपनी प्रकृति से ही गत्यात्मक है, न कि गतिहीन। इसमें विभिन्न स्तर और प्रकार के विचारों के लिए स्थान है। यह ठीक है कि इसका उदय आर्य 'हिन्दू' जीवन–दृष्टि के साथ हुआ, पर अपनी विकास–प्रक्रिया में यह हिन्दू जीवन–दृष्टि के अलावा अन्य जीवन–दृष्टियों के प्रभाव का भी बराबर स्वागत करती रही है।

शिक्षा और राष्ट्रीय एकता (नेशनल इण्टीग्रेशन) : जैसा कि हम जानते हैं भारतवर्ष विभिन्न धर्मों, सम्प्रदायों, मान्यताओं, भाषाओं, जातियों, विकास की विभिन्न अवस्थाओं और समस्याओं का देश है। पर इन सब विभिन्नताओं के बीच हम सब एक देश के निवासी हैं, एक इतिहास हमारी विरासत है और एक सुन्दर भविष्य का निर्माण हमारा लक्ष्य है। यह देश–प्रेम की दृष्टि हमारी सर्वोपरि दृष्टि है और हमारी शिक्षा का परिणाम इस दृष्टि को उत्तरोत्तर दृढ़ करना होना चाहिए। यह भी हमारी शिक्षा–प्रक्रिया का एक केन्द्र बिन्दु है।

स्त्री का समाज में स्थान : वनस्थली विद्यापीठ महिला शिक्षा की संस्था है। इसलिए इस बात का विशेषरूप से महत्त्व है कि समाज में स्त्री के स्थान के विषय में हम अपना मन्तव्य प्रकट करें। इस विषय में हमारी बुनियादी मान्यता यह है कि प्रकृति ने पुरूष और स्त्री को परस्पर पूरक बनाया है, न कि प्रतिद्वंद्वी। इसके साथ हमारा यह मत भी है कि समय और परिस्थितियों के कारण पूरकता की इस मान्यता की अभिव्यक्ति स्त्री

के व्यक्तित्व की पूर्णता के मार्ग में बहुत बाधक रही है। पुरूष और स्त्री एक दूसरे के पूरक हैं, यह मान्यता जितनी सही है, उतनी ही सही यह मान्यता भी है कि पुरूष हो या स्त्री दोनों का अलग–अलग अपने आप में स्वतंत्र व्यक्तित्व है। इस दूसरी मान्यता का फलितार्थ यह है कि समाज में इन दोनों का दर्जा जीवन के सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, आर्थिक और कानूनी क्षेत्र में समान है। हर समानता का अर्थ यह है कि अपने–अपने व्यक्तित्व का विकास करने के लिए दोनों को समान अवसर मिले। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं, इसका परिणाम यह नहीं आना चाहिए कि जीवन का कार्य–विभाजन सर्वथा ही जड़ और अपरिवर्तनीय हो जाए। अर्थात् यह न मान लिया जाए कि स्त्री का कार्यक्षेत्र केवल घर और पुरूष का केवल बाहर है। बाहर के सामाजिक जीवन के हर क्षेत्र में स्त्री को प्रवेश करने का पूरा अधिकार है और आर्थिक दृष्टि से किसी भी काम को चुनने और उसके लिए आवश्यक शिक्षा तथा प्रशिक्षण प्राप्त करने का भी पुरूष के समान ही सुयोग और स्वतंत्रता स्त्री को भी है। इस विषय में केवल एक बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि इस समानता और स्वतंत्रता के लिए समाज में ऐसी व्यवस्था हो, जिससे मातृत्व के दायित्व को निभाने और उपलब्ध अवसर का लाभ उठाने में उसे बाधा न पड़े। इस व्यवस्था का यह लाभ भी होगा कि व्यापक जीवन में भाग लेने के कारण स्त्री में एक नई जीवन–दृष्टि का उदय भी हो सकेगा।

शिक्षा तथा व्यक्ति का आचरण : उपर्युक्त प्रकरणों का सम्बन्ध उन मान्यताओं और प्रयोजनों से है, जिनसे, हमारे विचार से, एक शिक्षित व्यक्ति को प्रेरित होना चाहिए। इस प्रकरण में हम इन मान्यताओं और प्रयोजनों को मानने–समझने वाले व्यक्ति के व्यक्तिगत और सामाजिक आचरण से सम्बन्धित कुछ बातों की चर्चा करेंगे। विचार और भावना फलीभूत तभी होते हैं, जब उनके अनुरूप मनुष्य का जीवन, आदर्श तथा व्यवहार हो, इसीलिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति का जीवन किसी उच्च आदर्श से प्रेरित हो, जीवन में नैतिक मूल्यों की प्रधानता हो, सिद्धान्त की दृढ़ता और व्यवहार की दक्षता हो, समझौता और समायोजन की स्थायी वृत्ति के बावजूद सिद्धान्त की रक्षा के लिए कर्तव्यभाव से यदि संघर्ष आवश्यक हो जाए तो उससे भी न बचा जाए।

सामाजिक जीवन में पाई जाने वाली उन बातों से, जो व्यक्ति की गरिमा, उसकी स्वतंत्रता और सामाजिक न्याय के विपरीत हों, न केवल दूर रहा जाए, बल्कि उनके उन्मूलन में यथाशक्ति योगदान किया जाए तथा समाज में प्रचलित कुरीतियों, अन्धविश्वासों और अन्य बुराइयों से न केवल परहेज किया जाए, उन्हें समाज से मिटाने का प्रयत्न भी किया जाए।

उपर्युक्त व्यवहार के लिए यह आवश्यक है कि हर व्यक्ति के आचरण में दो बुनियादी तत्त्व अवश्य पाए जाएं। ये दो तत्त्व हैं :– (1) अच्छाई में आस्था और (2) जीवन के प्रति वैज्ञानिक दृष्टि। अच्छाई में आस्था होने से मनुष्य का व्यवहार नैतिक और समाज के हित के प्रति अनुकूलित होगा और न्यायपूर्ण समाज–व्यवस्था का वह समर्थक होगा। उसमें चरित्र की निर्मलता, हृदय की उदारता और व्यवहार की मधुरता पाई जायेगी तथा उसके जीवन में संयम, प्रेम, अनुशासन और मर्यादापालन के अलावा समानता, सर्व–धर्म–समभाव और सामाजिक न्याय के लक्षण भी पाए जायेंगे। सत्ता तथा संपत्ति के लिए जो अविवेकयुक्त दौड़ आज हमें देखने को मिलती है और जिससे व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन अत्यन्त दूषित हो रहा है, वह अपने आपको उससे दूर रख सकेगा। हमारे राष्ट्रीय जीवन में भ्रष्टाचार, दहेजप्रथा और मद्यपान जैसे दोष व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन को किस हद तक आक्रांत किए हुए हैं, यह हमें मालूम है। व्यक्ति और समाज को इनसे मुक्त करने का एकमात्र कारगर उपाय हैं, – मनुष्य में अच्छाई के प्रति आस्था का भाव निरपेक्षरूप में उत्पन्न करना। जीवन के प्रति अतिभौतिकवादी दृष्टि और जीवन में बाह्य आडम्बर तथा शान–शौकत की अभिव्यक्ति जिस तरह से आज के युग में फैल गई है, उसका भी एकमात्र निदान मनुष्य में अच्छाई, निरपेक्ष अच्छाई की आस्था को जाग्रत करना है।

दूसरा तत्त्व जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है, वह है जीवन के प्रति "वैज्ञानिक दृष्टि"। धर्म और सामाजिक परम्पराओं के नाम पर जो अन्धविश्वास और सामाजिक कुरीतियाँ आज हमें देखने को मिलती हैं, जो अन्तर–साम्प्रदायिक तनाव और संघर्ष–वृत्ति पाई जाती है तथा विचार–भिन्नता को जिस प्रकार परस्पर सद्भाव और सहिष्णुता के अभाव का रूप लेते हुए

देखा जाता है। इन सबके मूल में "अच्छाई" के अभाव के साथ–साथ वैज्ञानिक दृष्टि का अभाव भी है। यहाँ यह ध्यान में रखने की बात है कि जानकारी के अभाव में विज्ञान के नाम का सहारा लेकर हमारी प्राचीन विरासत का अंधविश्वास के नाम पर त्यागने या उसके प्रति निरादर का भाव रखने की भूल न करें।

संक्षेप में हम यही कहना चाहते हैं कि उस शिक्षा के फलस्वरूप, जिसका सैद्धान्तिक विवेचन हम गत प्रकरणों में कर चुके हैं, व्यक्ति का व्यक्तिगत और सामाजिक व्यवहार ऐसा होना चाहिए, जिससे व्यक्तिगत जीवन में सुख और संतोष का अनुभव हो और सामाजिक जीवन में समरसता (हारमनी) पाई जाए।

इस विषय में दैनिक जीवन से सम्बन्धित एक बात और भी है। आज के वैज्ञानिक, यन्त्र–प्रधान और भौतिकवादी वातावरण ने मनुष्य के जीवन को अत्यन्त पेचीदा तो बना ही दिया है, उसके साथ–साथ उसमें एक खास प्रकार का ऊपरीपन भी ला दिया है।

मनुष्य अपनी आवश्यकताओं को जिस प्रकार बिना किसी संयम और मर्यादा के बढ़ाता जा रहा है और आज का सारा जीवन जिस हद तक अर्थ–प्रेरित हो रहा है, वह हमारी राय से मानव कल्याण के लिए शुभ नहीं है। इसी प्रकार एक और दोष आज के जीवन का यह है कि उसमें गम्भीरता का अभाव, हल्कापन और छिछलापन बड़ी मात्रा में देखने को मिलता है। हमारे खान–पान, हमारी वेशभूषा, हमारा मनोरंजन, हमारी बोल–चाल सभी में यह व्याप्त है। हम चाहते हैं कि शिक्षा के द्वारा आधुनिक युग के इन दोषों को भी यथाशक्ति मिटाने का प्रयत्न किया जाए।

विद्यापीठ द्वारा किया गया शिक्षा का आयोजन : विद्यापीठ की शिक्षा–दृष्टि के आधार–सिद्धान्त और मूल्य क्या हैं और इन सिद्धान्तों और मूल्यों के अनुसार दी जाने वाली शिक्षा से कैसे मानव–व्यक्तित्व के निर्माण की अपेक्षा रखी जा सकती है, इसका विवेचन उपर्युक्त पंक्तियों में किया जा चुका है। अब हम इस दृष्टि से विद्यापीठ के द्वारा किए जा रहे शिक्षा

के आयोजन के बारे में विचार करेंगे। परन्तु यह विचार करने के पहले, अत्यन्त संक्षेप में हम उन कारकों का उल्लेख कर देना चाहेंगे, जो शिक्षा की प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं। वे हैं – (1) व्यक्ति को अपने संस्कार, (2) पारिवारिक प्रभाव (3) समाज का वातावरण (4) शिक्षा की प्रक्रिया। इनसे स्पष्ट होता है कि शिक्षा की औपचारिक प्रक्रिया, जो स्कूल, कॉलेज में चलाई जाती है, वह विद्यार्थी के व्यक्तित्व को प्रभावित करने वाला एकमात्र कारक नहीं है। शिक्षा–प्रक्रिया की एक और मर्यादा यह भी है कि वह स्वयं बहुत हद तक समाज के वातावरण और उसके द्वारा मान्य मूल्यों की सीमा में ही कार्य कर सकती है। स्कूल समाज की व्यापक व्यवस्था की एक उप–व्यवस्था मात्र है। इसलिए स्कूल और कॉलेज की शिक्षा समाज द्वारा मान्य मूल्यों की परिधि को लांघ कर उसके बहुत आगे नहीं जा सकती। समाज द्वारा सिद्धान्तरूप में स्वीकृत मान्यताओं को व्यवहार के क्षेत्र में अधिकाधिक प्रतिष्ठित करने का कार्य स्कूली शिक्षा कर सकती है, पर उससे आगे जाकर जो मूल्य समाज द्वारा अनुमत नहीं हैं, उनको प्रतिष्ठित करने का कार्य स्कूल की शिक्षा का एक सीमा में ही हो सकता है। यह संस्थागत शिक्षा की एक बड़ी मर्यादा है, जिससे वनस्थली विद्यापीठ भी एक हद तक बँधा हुआ है। इसके अलावा हर शिक्षण संस्था की तरह विद्यापीठ की यह मर्यादा भी है कि शिक्षार्थी के अपने निजी संस्कार के अतिरिक्त परिवार की परम्परा और समाज का माहौल भी, जिस हद तक वह विद्यापीठ में दी जाने वाली शिक्षा में मेल नहीं खाता, उस हद तक उस शिक्षा के प्रभाव को क्षीण करने का कार्य करता है। इसलिए किसी भी शिक्षण संस्था की सफलता का मूल्यांकन उपर्युक्त बातों का ध्यान रख कर ही किया जा सकता है। अब हम विद्यापीठ के द्वारा किए जाने वाले शिक्षा के आयोजन या शिक्षा के कार्यक्रम के बारे में संक्षेप में विचार करेंगे।

विद्यापीठ का शिक्षा–क्रम पंचमुखी है। यही पंचमुखी शिक्षा के नाम से जाना जाता है। इसके पाँच पक्ष हैं – शारीरिक, व्यावहारिक, कलाविषयक, नैतिक और पुस्तकीय। व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास करना इसका लक्ष्य है। वास्तव में व्यक्ति का व्यक्तित्व एक समन्वित इकाई

है, जिसका विभाजन नहीं किया जा सकता। इसीलिए जिस पंचमुखी शिक्षा की बात ऊपर कही गई है, उसके किसी एक पक्ष को दूसरे से सर्वथा अलग, वास्तव में, नहीं किया जा सकता और न विभिन्न पक्षों का विकास सर्वथा अलग–अलग होता ही है। जब तक शरीर स्वस्थ न हो, तब तक बौद्धिक विकास भी (जिसके लिए पुस्तकीय शिक्षा का विशेष महत्व है) पूरी तौर पर नहीं हो सकता। व्यावहारिक और कलाविषयक शिक्षा के लिए भी स्वस्थ शरीर और बौद्धिक क्षमता की आवश्यकता होती है। नैतिक शिक्षा तो अलग से कोई अर्थ ही नहीं रखती। व्यक्तित्व का नैतिक विकास एक ऐसी उपलब्धि है, जो जीवन के हर क्षेत्र में एक आधारभूमि का काम करती है। विद्यापीठ की पंचमुखी शिक्षा की इस समन्वयात्मक इकाई को समझते हुए विद्यापीठ के शिक्षा–क्रम के अन्तर्गत विभिन्न कार्यक्रमों का ऐसा आयोजन करने का प्रयत्न किया गया है, जो व्यक्तित्व के इस संपूर्ण और समन्वित विकास में सहायक हो।

विद्यापीठ द्वारा दी जाने वाली पंचमुखी शिक्षा से, उस वातावरण और सरल तथा सादा जीवन का भी कम महत्त्व नहीं है, जो न केवल विद्यापीठ के छात्रावासों में ही, बल्कि समूचे परिसर में पाया जाता है। विभिन्न वर्गों, धर्मों, जातियों, मान्यताओं, प्रदेशों और भाषाओं की छात्राएँ न केवल छात्रावास में ही बल्कि स्कूल–संकायों/संस्थानों में भी समरसता के वातावरण में जो पारिवारिक स्नेह और व्यवहार पाती हैं, उसका उनके व्यक्तित्व के स्वस्थ विकास पर बड़ा अनुकूल प्रभाव पड़ता है। विद्यापीठ एक सावास संस्था है, जहाँ छात्राओं और कार्यकर्त्ताओं तथा कार्यकर्त्ताओं और कार्यकर्त्ताओं के बीच (विद्यापीठ में विद्यापीठ के अध्यक्ष–उपाध्यक्ष, निदेशक से लेकर सहायक वर्ग के सभी लोग कार्यकर्त्ता की श्रेणी में आते हैं) जो मधुर और पारिवारिक अनौपचारिक सम्बन्ध देखने को मिलता है, वह विद्यापीठ की अपनी विशेषता है, जिसका कि विद्यापीठ में दी जाने वाली शिक्षा पर बड़ा अनुकूल असर पड़ता है।

शिक्षाक्रम के साथ ही साथ शिक्षण–विधि का भी बड़ा महत्त्व होता है। विद्यापीठ का प्रयत्न यथाशक्ति यह कहता है कि शिक्षा के विभिन्न पक्षों का एक दूसरे के साथ समन्वय हो तथा पुस्तकों के माध्यम से दी जाने

वाली शिक्षा को छात्राओं के वास्तविक अनुभवों के साथ जोड़ा जाए। इन अनुभवों में व्यक्तिगत, पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन से मिलने वाले अनुभव, प्राकृतिक वातावरण से उपलब्ध अनुभव और स्वयं द्वारा किए गए विभिन्न हाथ के उत्पादक तथा उपयोगी काम को करते समय प्राप्त होने वाले अनुभव, सभी शामिल हैं।

उपसंहार : उपर्युक्त प्रकरणों में हमने मोटे रूप में दो विषयों पर विचार किया है – एक तो यह कि हम क्या चाहते हैं, हमारा लक्ष्य कैसी शिक्षा देना है, और दूसरा यह कि अपने इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए हम क्या प्रयत्न कर रहे हैं। दूसरे शब्दों में, इसी बात को अधिक व्यापक रूप में यो भी कह सकते हैं कि हमारा **आदर्श** क्या है और हमारा, उस आदर्श को प्राप्त करने के लिए **व्यवहार** क्या है और क्या यह व्यवहार आदर्श को छूता है। उपसंहार में हम आदर्श और व्यवहार के इसी सम्बन्ध का विवेचन करेंगे और इस विवेचन के सिलसिले में एक अन्य संबंधित प्रश्न पर भी विचार करेंगे कि मानव व्यवहार में **समझौते और संघर्ष** का क्या सापेक्षिक महत्त्व है।

"आदर्श" और "व्यवहार" शब्दों का सामान्यतया इस अर्थ में प्रयोग किया जाता है कि 'आदर्श' कहने और सुनने के लिए होता है, जिसका करने से बहुत सम्बन्ध नहीं। अनेक बार हम लोगों को यह कहते हुए सुनते हैं कि "यह तो आदर्श की बात है, व्यवहार की नहीं", दूसरे शब्दों में जैसे "आदर्श" का "व्यवहार" से कोई सम्बन्ध ही नहीं हो। मनुष्य के व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की बहुत–सी कठिनाइयाँ "आदर्श" और "व्यवहार" के इस द्वैत से ही पैदा होती हैं। इस सम्बन्ध में हमारी मान्यता यह है कि "आदर्श" केवल कहने और सुनने के लिए न होकर अमल करने के लिए होता है। आदर्श का काम है एक "दिशा" को बतलाना, जिस ओर जाने का प्रयत्न मनुष्य को व्यवहार में करना चाहिए। यह ठीक है कि आदर्श अप्राप्य होता है। क्यों ? इसलिए कि "आदर्श" पूर्णता का प्रतीक है और सांसारिक मनुष्य अपूर्ण है, इसलिए वह कभी पूरे तौर पर आदर्श को प्राप्त नहीं कर सकता। यह बात इस प्रकार से भी कही जा सकती है कि यह संसार निरन्तर गतिमान है, जिसमें कभी पूर्ण विराम

या ठहराव नहीं आता। जीवन का अर्थ ही निरन्तर 'चरैवेति–चरैवेति'' (चलना ही चलना) है। दूसरे शब्दों में, जीवन में निरंतर विकास के लिए गुंजाइश है। इसलिए जीवन के ''व्यवहार'' के लिए ''आदर्श'' का होना हम आवश्यक मानते हैं। आदर्श–शून्य जीवन दिशाहीन जीवन है। इसलिए हर मनुष्य को अपने जीवन के सामने एक न एक उच्च आदर्श रख कर चलना चाहिए।

यहाँ एक शंका सहज ही उत्पन्न होती है। सभी मनुष्यों के आदर्श समान न हों; तब कौन–सा आदर्श मानने योग्य समझा जाना चाहिए। इसका एक उत्तर तो यह होगा कि हर व्यक्ति का आदर्श उसकी अपनी विशेष परिस्थिति से प्रभावित होगा। इसलिए भिन्न–भिन्न परिस्थिति वाले मनुष्यों के आदर्श भी भिन्न–भिन्न हों, यह सर्वथा स्वाभाविक है। इसके अलावा हर व्यक्ति तथा समाज के विकास का भी अपना–अपना स्तर होता है और उसी के अनुसार उसका आदर्श भी होगा। परिस्थितियाँ अथवा विकास–स्तर के बदलने के साथ आदर्श में परिवर्तन भी होगा। इस प्रकार आदर्शों में भिन्नता का होना स्वाभाविक है। पर आदर्श कोई भी हो, उसका एक लक्षण सब में समान रूप से पाया जाना चाहिए। यह लक्षण है : आदर्श का मानव जीवन को उत्तरोत्तर विकसित करना, उसमें समानता, स्वतंत्रता, प्रेम, न्याय, उदारता, सहिष्णुता आदि के नैतिक और, जिनकी आस्था हो उनमें श्रद्धा और आस्तिकता के गुणों का अधिकाधिक प्रवेश कराना। संक्षेप में आदर्श वह है जो सबके लिए कल्याणकारी हो, जो सबके विकास का और सर्वोदय का साधन हो।

इसी संदर्भ में, जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, जीवन–व्यवहार में 'समझौता और संघर्ष' के सापेक्षिक महत्त्व के विषय में हम संक्षिप्त चर्चा करेंगे। इस सम्बन्ध में हमारा मानना यह है कि 'समझौता' जीवन का सामान्य नियम है और 'संघर्ष' उसका अपवाद। जीवन की सामाजिकता में से ही उपर्युक्त मान्यता निकलती है। समाज में रहने का अर्थ ही यह है कि हम विभिन्नता में एकता को बनाए रख सकें। यह भिन्नता नाना प्रकार की हो सकती है, यथा– धर्म, दर्शन, देश–प्रदेश, भाषा, संस्कृति–सभ्यता, रहन–सहन, रीति–रिवाज, सामाजिक विचारधारा और विचार में भिन्नता।

यदि हम अपने से भिन्न किसी के साथ रहना नहीं सीख सकते, दूसरों के साथ अपना मेल नहीं बैठा सकते, दूसरे के विचारों की स्वतंत्रता को स्वीकार नहीं कर करते तो समाज में हम अशान्ति उत्पन्न करने का कारण बनेंगे। इसलिए हर व्यक्ति में समझौता और सहिष्णुता की वृत्ति होनी चाहिए। पर इसका यह अर्थ नहीं कि जीवन में संघर्ष के लिए कोई स्थान ही नहीं है। सही (देश–काल से सापेक्ष तथा निरपेक्ष–दोनों दृष्टियों से) आदर्श की रक्षा या स्थापना के लिए कई बार संघर्ष आवश्यक हो जाता है, यह इतिहास हमें बताता है। ऐसे संघर्ष को कर्तव्य–भाव से अपनाना मुनष्य का धर्म है जो सम्पूर्ण विनय के साथ स्वीकार किया जाना चाहिए।

उपर्युक्त पंक्तियों में सार–रूप में उन सभी महत्त्वपूर्ण विचारों को लिपिबद्ध करने का प्रयत्न किया गया है, जो हमारी शिक्षा के इस महान् प्रयोग को अनुप्राणित करते हैं।

अन्त में हम अपनी इस आस्था को अवश्य व्यक्त करना चाहेंगे कि सच्ची श्रद्धा और सम्पूर्ण भाव से किया गया प्रत्येक सद्विचार और सत्कार्य फलीभूत होता है और आज के समय में भी वनस्थली के सम्बन्ध में हमारा अकाट्य (अनफेलिंग) आशावाद इसी आस्था पर आधारित है।

❑❑❑